ORIGINAL RESEARCH PAPER

Hindi

देशज व आदिकालीन साहित्यिक हिन्दी और विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित लोक अपभ्रंश

KEY WORDS:

सुमन

एम.ए. हिन्दी, बी.एड., यूजीसी नैट (हिन्दी) गांव व डाकखाना–माधोसिंघाना, जिला व तहसील सिरसा (हरियाणा)

हिन्दी का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से माना जाता है। डॉ. वीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है–शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, और पहाड़ी, भाषाओं का संबंध है। इनमें से गुजराती, राजस्थानी तथा पहाड़ी भाषाओं का सम्पर्क विशेषतया शौरसेनी के नागर अपभ्रंश रूप से है। पूर्वी हिन्दी का पर्यायवाची अपभ्रंश से तथा मराठी का महाराष्ट्री अपभ्रंश से सबंध है। शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी का विकास माना गया है, किन्तु इस अपभ्रंश के दो रूप प्रचलित हैं–एक वह जिसमें साहित्य का निर्माण हुआ है और दूसरा वह जिसका प्रयोग जनता करती रही होगी। इसे दूसरे रूप–यानी लाके अपभ्रंश से पुरानी हिन्दी या आदिकालीन हिन्दी भाषा का विकास हुआ। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का यह कथन सही है–विक्रम की सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वही पुरानी हिन्दी में परिणित हो गई है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि कहीं पर परवर्ती अपभ्रंश समाप्त हुआ है और कहां पुरानी हिन्दी प्रारम्भ हुई। गुलेरी जी ने जिस संक्रांतिकालीन भाषा को पुरानी हिन्दी कहा है, उसका काल निर्धारण उन्होंने भी नहीं किया है। उन्होंने लिखा है–अपभ्रंश कहां समाप्त होता है और पुरानी हिन्दी कहाँ आरम्भ होती है, इसका निर्णय करना। कठिन किन्तु रोचक और बड़े महत्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। इसीलिए कुछ विद्वानों ने हिन्दी के आदिकाल को अपभ्रंश का काल ही माना है। हिन्दी काव्य–भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रमी की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी आदिकाल की हिन्दी भाषा का समय दसवीं शताब्दी मानते हैं उन्होंने लिखा है–वस्तुतः छन्द, काव्य रूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोक भाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है। यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है। इसीलिए दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोक भाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ा भिन्न भाषा कासाहित्य कहा जा सकता है।

यह है कि हिन्दी के आदिकाल का समय–विस्तार दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक मानना उचित है। इस कालावधि में जिन बोलियों के देशी शब्दों ने साहित्यिक हिन्दी का रूप निर्धारण किया उनमें से पांच मुख्य है–

1. पूर्वी प्रदेश में पाई जाने वाली परवर्ती अपभ्रंश जिनका प्रतिनिधित्व बंगला, असमिया, मैथिली, मगही कर रही थी।
2. वाराणसी और उसके आस–पास की अपभ्रंश बोली तथा पुरानी हिन्दी।
3. ब्रज क्षेत्र में प्रचलित पुरानी हिन्दी।
4. पश्चिम भारत में प्रचलित पुरानी पश्चिमी राजस्थानी।
5. खड़ी बोली का आदिरूप जो दोहों में मिलता है।

जिन बोलियों का उल्लेख पर किया गया है, उसमें देशी शब्द स्वाभाविक रूप से आये हैं। इस काल के देशज या देशी शब्दों का अपना महत्व है। हेमचन्द्र के समय से ही देशी शब्दों की वृद्धि होने लगी थी, इसीलिए हेमचन्द्र को अलग से देशी नाम माला लिखने की आवश्यकता महसूस हुई। इन देशी शब्दों ने तत्कालीन भाषा–प्रवृत्ति को इस ढंग से मोड़ा जिसके फलस्वरूप ये भाषाएं तथा बोलियां आर्य भाषाओं के उदय का कारण बनी। देशज शब्दों के साहित्यिक हिन्दी में प्रवेश का एक मुख्य कारण देशज का राजनैतिक दशा तथा विदेश आक्रमण है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है–राजनैतिक घटनायें समाज में जो संघर्ष की स्थिति पैदा करती है उससे कई प्रकार के परिवर्तन जो शान्तिकाल में अपनी स्वाभाविक गति से धारा के समतल पर धीरे–धीरे होते रहते हैं, वे आरोपण के कारण विक्षुब्ध होकर बड़ी तीव्रता से प्रारम्भ होते हैं। नई व्यवस्था के आरोपण तथा जनता के बिखरने से साहित्यिक भाषा के अन्दर कई प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं। शब्द–समूह का विकास तो अपरिहार्य घटना होती है, इसके अतिरिक्त देशी प्रयोग तथा विभिन्न विभाषाओं के बहुत से तत्व भी गृहीत हो जाते हैं। देशी शब्दों के आदिकालीन साहित्यिक हिन्दी में प्रवेश का दूसरा कारण–सन्तों का प्रचार है। चाहे पढ़े–लिखे सन्त महात्माओं ने तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया हो पर अपढ़ साधुओं तथा कबीर जैसे लोक जीवन से जुड़े महात्माओं ने देशज शब्दों का खुलकर प्रयोग किया है। इनके काव्य में देशी शब्दों की भरमार है। देशज शब्दों के साहित्यिक हिन्दी में प्रयोग का एक कारण यह भी था कि संस्कृत भाषा मृत हो चली थी। सामान्य जनता उसे समझने से असमर्थ थी, इसीलिए ऐसी भाषा का व्यवहार आवश्यक हो गया जो जनता के लिए सर्वाधिक उपयोगी हो सके। देशज शब्दों के आगमन का एक और कारण यह था कि देशी या लोक भाषाओं में विदेशी शब्दों के पहचानने की अद्भुत शक्ति थी। एक और देशी भाषा तत्सम पदावली या तद्भव शब्दों को स्वीकार करती थी तो दूसरी ओर विदेशी शब्दों के ग्रहण में उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। कीर्तिलता पृथ्वीराज रासो उक्ति–व्यक्ति और संदेश रासक आदि ग्रन्थों में विदेशी शब्दों को स्वाभाविक ढंग से देशी शब्दों के रूप में ढाल कर प्रयोग किया गया है। विदेशी शब्दों के वजन पर इन बोलियों में विभिन्न प्रकार के देशी शब्द प्रयुक्त होने लगे तथा ये देशी शब्द नीचे की सतह से उठकर विभाषाओं तथा बोलियों के ऊपरी सतह पर तैरने लगे तथा प्रवाह में आ गये। पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के मत से पूर्वी बोलियों की जो परम्परा थी उनमें देशी शब्दों का ग्रहण अधिक हुआ है। अर्धमागधी, प्राकृत तथा अर्धमागधी अपभ्रंश में यह परम्परा पूर्ण रूप से सुरक्षित है। आदिकालीन हिन्दी में देशज शब्दों के प्रयोग का पुष्ट रूप जिस कृतियों में मिलता है वे मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं–1– वर्णरत्नाकर, 2–विद्यापति पदावली, 3–सन्देह रासक, 4–पृथ्वीराज रासो, 5–राउखेल, 6–वेलिकिसन रुकमणि, 7–ढोला मारूष दूहा, 8–भरतेश्वर बाहुवलि रास, 9–रणमल्ल छन्द।

वर्णरत्नाकर के रचयिता ज्योतिराश्वर ठाकुर हैं। इसमें मैथिली के प्राचीनतम रूप के दर्शन होते हैं। इस समय तक पूर्वी बोलियों के स्पष्ट भेद नही हो पाये थे इसीलिये भाषा की दृष्टि से इस कृति का महत्व है। इस कृति में शब्दों के रूपों में काफी समानता मिलती है। विभक्ति प्रत्यय घिस गये हैं, परसर्ग का प्रयोग कारक सम्बन्ध प्रकट करने के लिए हुआ है। विद्यापति पदावली की रचना विद्यापति ने लोक भाषा में की है। इस पदावली के कारण विद्यापति के जीवन काल में ही उन्हें अभिनव अर्थदेव, कवि शेखर, कवि कंठहार, तथा मैथिल कोकिल आदि नामों से पुकारा जाने लगा था। यद्यपि ग्रियर्सन और रोनले जैसे विद्वान विद्यापति पदावली की भाषा को ग्रियर्सन के निकट मानते हैं, किन्तु आचार्य शुक्ल तथा डॉ. उमेश मिश्र इसे मैथिली का ग्रन्थ मानते हैं। निष्कर्ष यह है कि विद्यापति पदावली की भाषा, पुरानी ब्रज आदिय मैथिली है और इसमें स्वाभाविक रूप से देशी शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। संदेह रासक के लेखक का नाम उदयभान है। इसे टीकाकारों की उपलब्धि के आधार पर वलेच्छ देशी उत्पन्न भीसन का पुत्र माना जाता है। उदयभान के रचनाकाल के विषय में कभी कोई निर्णय नहीं हो सका है। सन्देह रासक में मुल्तान का जो भव्य–चित्रण किया गया था वह महमूद के आक्रमण के पूर्व हो सकता है। देशी भाषा मिश्रित इस काव्य का महत्व कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इस कृति में जिसमें आर्थिक पुट न होकर शुद्ध साहित्यिक रूप उभरकर आया है। डॉ. दशरथ ओझा ने लिखा है–शुद्ध लौकिक प्रेम की व्याख्या करने वाला यह प्रथम रासक ग्रन्थ है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने इस ग्रन्थ को देशज शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से अति साहित्यिक और पाण्डित्य पूर्ण ग्रन्थ माना है। पृथ्वीराज रासो के लेखक चन्द्रबरदाई हैं, इस ग्रन्थ की चार प्रतियां मिलती हैं, जिनको वृहद रूपान्तर, लघु रूपांतर तथा लघुतम रूपांतर की संज्ञा दी गई है। रासो प्रामाणिक, अर्द्ध प्रमाणिक और अप्रमाणिक माना गया है। मुनि जिन विजय और डॉ. दशरथ शर्मा के प्रयासों के फलस्वरूप रासों की लघुतम प्रति प्रामाणिक मानी गई है। रस प्रवणता तथा भाषा के प्रयोग की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। रासो काव्य परवर्ती कवियों की प्रेरणा भूमि है इसमें वस्तु वर्णन, चरित्र–नियोज न चमत्कारिक ढंग से किया गया है। इस ग्रन्थ में देशज शब्दों की भरमार है। इसमें शब्दों की बहुलता मिलती है। रासों की भाषा में आदि से अन्त तक परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं। उसका कारण है कि यह काव्य विकसित शील काव्य परम्परा का द्योतक है। इसीलिए भाषा में परिवर्तन होने आवश्यक है। रासों की भाषा देशज शब्दों के प्रयोग और साहित्यिक हिन्दी के संरचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। राउखले काव्य शिलालेख पर अंकित है इसका परिचय डॉ. हरिवल्लभ मायाणी द्वारा मिला था। इसके बाद डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इसे सम्पादित कराया। डॉ. मायाणी और गुप्त इसे ग्यारहवीं शताब्दी की रचना मानते हैं। इसमें देशी शब्दों का प्रचुर प्रयोग है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह इसमें मध्यदेशीय अपभ्रंश पर पछाही अपभ्रंश का गहरा प्रभाव मानते हैं। भाषा की प्रामाणिकता एवं साहित्य की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण रचना है। वेलिकिसन रुकमणि डिंगल की प्रसिद्ध रचना है। अकबर के दरबारी कवि पृथ्वीराज ने इसकी रचना की है। यह ग्रन्थ तीन अध्यायों में है। इसमें कवि ने नवीन उद्भावनाओं के साथ साहित्यिक परम्परा का पालन किया है। ढोला मारूष्दूहा लोक भाषा में रचित है। इसके रचयिता किल्लोल कवि हैं। राजस्थानी हिन्दी में लिखित इस ग्रन्थ के संबंध में यह लोकोक्ति प्रचलित है–

सोरठिया दूहो भलो, मलि भाषण री बात।
श्रावण छाछ छण भली, तारां छाछ रात।।

इसकी कथा मर्मस्पर्शी है। यह लोक–गीतिका है। इसमें देशज शब्दों के प्रचुर प्रयोग हैं। इसमें षडऋतु और बारह मासा का मार्मिक वर्णन है। इसमें विरहिणी मारवणी के चातक और कुररी के साथ हुए संवाद बड़े सरस हैं। यह लोकभाषा में लिखी होने पर भी साहित्यक है। भरतेश्वर बाहुबलि रास के रचयिता शालिभद्र सूरि है। सूरि हेमचन्द्र के समकालीन माने जाते हैं दो–सौ पांच छन्दों का यह काव्य वीरगाथाओं में अपना महत्व रखता है। कथानक–संगठन, सजीव–वर्णन, शब्द–चयन तथा उक्ति वैचित्र के बल पर यह काव्य आकृष्ट हो गया है। यह कृति राजस्वामी और गुजराती के देशी या देशज शब्दों से भरपूर है। रणमल्ल छन्द यह रचना श्रीवर की मानी जाती है जो राठौर राजा रणमल्ल के दरबारी कवि थे। उसमें सत्तर पद्य हैं। इस लघुकाव्य में काव्य–सोष्ठव रसानुकूल योजना, छन्द–चयन एवं विषय वस्तु का अच्छा निर्वाह किया गया है। भाषाओं, रासो की भाषा से मिलता जुलता है।

यह है कि आदिकालीन साहित्यिक हिन्दी में देशज शब्दों का प्राचुर्य है। कहना चाहिए कि देशज शब्दों ने ही इस युग की भाषा को रूप और आकार दिया है। इस युग में धूपद्र, अड़य, कटछ, पकड़कर, जोयड़, शंडउ, खंकउ, भड़ह ड़उ, चीचुअंछ, धूकड़ जैसे शब्दों के प्रयोग विपुल मात्रा में हुए जो बाद में साहित्यिक हिन्दी में प्रतिष्ठापित हो गए। देशज शब्दों के रूपनिर्माण और उसके साहित्यिक हिन्दी में प्रयोग का यह संक्रमण युग है, इसमें भाषा का अनगढ रूप धीरे–धीरे सुव्यवस्थित दिशा ग्रहण कर रहा था पर उसमें विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित अपभ्रंशों तथा बोलियों का प्रचुर प्रभाव था। इस युग की साहित्यिक हिन्दी में प्रयुक्त प्रमुख देशी शब्द ये हैं :–

1– अउझक (अचानक) 2– अउताक (शीघ्रता) 3– अणछेह (अपार अनन्त) 4– अर हशीघ्र 5– अलल्ल (घोड़ा) 6– ओल (क्षेत्र दिशा) 7– कंव, कंबड़ी (अड़ी, डाली) 8– कवोलद्र (कटोरा) 9–करल (पगडंडी) 10–करार (नदी का किनारा) 11–कसना (गिरना) 12–आंचल 13–सुप्पार (सौपड़ी) 14–सोरड़ा (बूढ़ी स्त्री) 15–गाछ (पेड़) 16–घाघर (स्त्रियों का अद्योवस्त्र घाघरा) 17–चंगा (सुन्दर) 18–चाकड़ (शीघ्रता) 19– चुटकी (उंगली और अंगूठे से की जाने वाली ध्वनि) 20– चुच्कार (पालतू पशु को बुलाने के लिए निकलने वाली ध्वनि) 21–छाकं (नशा) 22–झटक (तुरन्त) 23–झांझर (एक आभूषण) 24–रासना (टालना) 25–टालिमा (चुनी हुई कोई वस्तु) 26–ढाढी (मास मांगने वालों की एक जाति) 27–ढिंग (पास) 28– दुवकय (घुसना) 29–छांगड़ (उजड्ड) 30–फाटा (अंश मात्र) 31–फॉका (झाग) 32–बाहुड़ (लौटना) 33 भिनसार (प्रातःकाल) 34–बोड़ (चादर) 36– सार (चावुक) 36–हेरना (खोजना)। इन शब्दों के अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे देशज शब्द हैं, जिनकी साहित्यिक हिन्दी की समृद्धि में प्रमुख भूमिका रही है।

विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित लोक–अपभ्रंश का इतिहास :

अपभ्रंश भारत के विशाल भू–भाग की भाषा थी। वह लगभग 1000 वर्ष तक इस देश में या तो लोक अपभ्रंश या परिनिष्ठित अपभ्रंश के रूप में प्रचलित रही है। यह एक निरन्तर गतिशील भाषा रही है, इसीलिए स्थान भेद के कारण इसमें विविधता आ गई थी। प्राचीन काल के पाण्डितों का भी ध्यान अपभ्रंश के विभिन्न भेदों की ओर गया था उन्होंने अपभ्रंश के विविध भेदों

की चर्चा की है। विष्ण धमोसर में देशी भाषा विशेषण 'तस्वां तो मेव विद्यते कहकर देशी भेद से अपभ्रंश के अन्त भेदों की ओर संकेत किया है। रुद्रट के द्वारा अपभ्रंश के तीन भेद हैं–1 उपनागर, 2 अभीष्ट और 3 ग्राम्य। लोक अपभ्रंश या देशी भाषा अपभ्रंश के विभिन्न भेदों का सबसे प्रामाणिक विवेचन उद्योतन सुरिने किया है। प्रान्त भेद का दृष्टि से अपभ्रंश की विभिन्न विभाषाओं का इतने विस्तार से वर्णन अन्यत्र कही नहीं मिलता। उद्योत न सुरि ने देशी अपभ्रंश की उन्नीस विभाषाओं का उल्लेख किया है–1 गोरल, 2 मध्यदेश, 3 मगध, 4 अन्तवेद, 5 कीर, 6 टक्क, 7 सिन्ध, 8 मरु, 9 गुर्जर, 10 लाट, 11 मालव, 12 कर्नाटक, 13 तमिल, 14 कोसल, 15 महाराष्ट्र, 16 आन्ध्र, 17 सिख, 18 पारसी, 19 वव्वर। भाषाओं के उदाहरण भी उन्होंने दिये हैं। विभिन्न प्रान्तों में बोली जाने वाली अपभ्रंश के प्रान्तीय भेदों के आधार पर देशी अपभ्रंश के भेद किये गये हैं। प्राकृतानुशासन के लेखक पुरूषोतम ने 12वीं शताब्दी में अपभ्रंश का शिष्टों के प्रयोग से जानने की सलाह देते हुए अपभ्रंश के तीन भेदों का उल्लेख किया है–1 नागर, 2 व्राचड़ और, 3 उपनागर। साथ ही पुरुषोत्तम ने पांचालादिकों की सूक्ष्मान्तर और लोकगम्य बताकर वैदमा, ठाटा, लट्ठी, गाड़ी आदि का भेदक विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। उन्होंने टक्क, बव्वर, कन्तल, पाण्डि। सिंहलादि भाषाओं की ओर भी इंगित किया है। राम शर्मा वागीश ने प्राकृत कल्पतक पुस्तक के द्वितीय पुस्तक में नागर अपभ्रंश और तृतीय पुस्तक में व्राचड़ अपभ्रंश का उल्लेख किया है। टक्की को इन्होंने नागर और व्राचड़ का मिश्रण माना है। रामशर्मा वागीश ने यह स्वीकार किया है कि इन्होंने तीनों के विभेद ही समूचे भारत में विभिन्न रूपों में प्रचलित रहे हैं। उन्होंने इन लोक अपभ्रंशों के बीस भेदों का उल्लेख किया है–1. पांचालिका, 2. मागधी, 3. वैदर्भिका, 4. लाटो, 5. आड्रेडी, 6. कैकीयिक, 7. गौड़ी, 8. कौन्तली, 9. पाण्डो, 10. सैहली, 11. कालिंगजा, 12. प्राच्या, 13. आभारिका, 14. कर्नाटिका, 15. मध्यप्रदेश, 16. गांजरी, 17. द्राविड़ी, 18. पाश्चात्यजा, 19. वैतालिकी, 20. कांची। वास्तव में प्राकृत के व्याकरणों ने विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित विभिन्न अपभ्रंशों को उनके अनुरूप नामों से सम्बोधित किया है। मार्कण्डेय ने प्राकृत सर्वस्व में अपभ्रंश के सत्ताइस भेदों का उल्लेख किया है–1. व्राचड, 2. वाणर, 3. लाट, 4.आवत्य, 5. वेदर्भ, 6. मागध, 7. उपनागर, 8. पांचाल, 9. नागर, 10. टाक्क, 11. मालव, 12. कातिल, 13. कैकम, 14. सैहल, 15. गौंड, 16. कलिंग, 17. आर्द्र, 18. प्राच्य, 19. वैवपाश्चात्य, 20. पाण्डव, 21. काणट, 22. कांच्य, 23. द्राविड, 24. गार्जर, 25. आभार, 26. मध्यदेशीय और 27. वैसाल।

मार्कण्डेय का विवेचन अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक है। मार्कण्डेय में नागर अपभ्रंश के लिए तीन पाद 17, 18 और 10 व्राचड़ के लिए 11 सूत्र और उपनागर के लिये केवल एक सूत्र का विधान किया है। व्राचड़ को उन्होंने सिन्ध देशोद्रभव कहा है तथा उपनागर को नागर और व्राचड़ को संकर। हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश–साहित्यिक तथा परिनिष्ठित भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई थी। लोक भाषा के रूप में इस अपभ्रंश की स्थिति किसी प्रकार भी नहीं स्वीकार की जा सकती। यह निश्चित है जैसे–जैसे समय आगे बढ़ता है, मनुष्य के वर्गों का विस्तार होता जाता है, वैसे–वैसे भाषा में विविधता की गुंजाइश बढ़ती जाती है, इस भाषा–वैज्ञानिक तत्व पर कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश के विविध प्रान्तीय भेद अवश्य रहे होंगे। हेमचन्द्र ने ऐसे शब्दों का संकलन विविध प्रान्तों में बिखरी हुई बोली को सूत्रबद्ध करने के लिए किया। भारतीय आर्य भाषाएं सर्वदा सभी प्रान्तों की बोलियों से विकसित हुई हैं। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और राहुल सांस्कृत्यायन एवं हेमचन्द्र ने अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी स्वीकार किया है।

निष्कर्ष यह है कि अपभ्रंश केवल हिन्दी की अपनी चीज नहीं है। उस पर भारतीय या भारत की सभी भाषाओं का समान अधिकार है। वह मराठी, गुजराती, पंजाबी, हिन्दी क्षेत्र की भाषाओं राजस्थानी, मालवी, बुन्देली, हरियाणी, कौरवी, पहाड़ी, ब्रज, अवधी, मगही, भोजपुरी, मैथिली, असमिया, बंगला और उड़िया की अपनी निधि है। इन सभी भाषाओं के क्षेत्र में अपभ्रंश साहित्य की रचना हुई, उसको अपना समझा गया।

संदर्भ :

1. हिन्दी भाषा का इतिहास, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा दारागंज इलाहाबाद पृ. 36, 48.
2. पुरानी हिन्दी (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी) नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पृ. 7.
3. देशी कोश की भूमिका, जनसत्ता समाचार पत्र जून 2000, पृ. 5.
4. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, दरियागंज नई दिल्ली (डॉ. नामवर सिंह), पृ.–42.
5. ब्रजभाषा और उसका साहित्य (ज्ञानोदय नई दिल्ली दिसम्बर 2008), पृ.36.
6. स्वयं का सर्वेक्षण व निष्कर्ष।